पूज्य लालचंदभाई का प्रवचन
प्रश्नोत्तरी एवं चर्चा २, प्रवचन नंबर ५६९
तारीख ०१-०८-१९९०, ०२-०८-१९९०

आदि-मध्य-अंत में, मैं तो कर्म-अबंध हूँ, मैं तो मुक्त हूँ। ऐसे-ऐसे बहुत शब्द शास्त्र में आते हैं। तो वो आत्मा का जैसा स्वरूप है, जीवतत्त्व का, ऐसा स्वरूप ख़्याल में लेने से महिमा आती है कि मैं आनंद की मूर्ति हूँ। आनंद भरा है मेरे में, दुःख मेरे में है नहीं। दुख पर्याय में हो तो हो मगर मेरे में नहीं है। ऐसा द्रव्य-पर्याय का भेदज्ञान करने से द्रव्यस्वभाव की अधिकता आती है और पर्याय (की) गौणता हो जाती है। गौण होकर लक्ष छूट जाता है और द्रव्य का लक्ष आ जाता है तो अनुभूति हो जाती है। पर्याय नहीं है ऐसा नहीं; पर्याय गौण करके उसका लक्ष छोड़ देना।

मुमुक्षु: अभी थोड़ी देर पहले ये बात आयी थी कि अतीन्द्रियज्ञान आत्मा को जानता है और इन्द्रियज्ञान पर को जानता है। हम सबके पास तो इन्द्रियज्ञान ही है।

पू. लालचंदभाई: हाँ!

मुमुक्षु: अतीन्द्रियज्ञान तो है नहीं। तो फिर हम आत्मा को कैसे जानेगें?

पू. लालचंदभाई: अतीन्द्रियज्ञान प्रगट करना।

मुमुक्षु: वो तो आत्मा को जानने पर प्रगट होगा?

पू. लालचंदभाई: नहीं। इन्द्रियज्ञान का निषेध करते ही अतीन्द्रियज्ञान प्रगट हो जाता है! इन्द्रियज्ञान का निषेध करते ही मैं तो अतीन्द्रियज्ञानमय भगवान आत्मा हूँ। इन्द्रियज्ञान कर्ता का कर्म नहीं है और ज्ञान का ज्ञेय भी नहीं है। मेरे में (उसकी) नास्ति है। द्रव्य में तो नास्ति है मगर अतीन्द्रियज्ञान जो प्रगट अभी होगा (तो) उसमें भी उसकी (इन्द्रियज्ञान की) नास्ति रहेगी, अंदर में नहीं आएगा। ऐसा भेदज्ञान का विचार करने से एक नया अतीन्द्रियज्ञान अनुभूति के काल में प्रगट हो जाता है।

मुमुक्षु: साहेब! इन्द्रियज्ञान का निषेध इन्द्रियज्ञान खुद करेगा? कि अतीन्द्रियज्ञान आकर इन्द्रियज्ञान का निषेध करेगा?

पू. लालचंदभाई: नहीं! पहले सविकल्प में, मानसिकज्ञान में विधि-निषेध का विकल्प आता है। वो मानसिकज्ञान में विधि-निषेध का विकल्प आता है। बाद में विकल्प छूट जाता है और साक्षात्, विधि-निषेध का राग-द्वेष नहीं होता है, मध्यस्थ हो जाता है तो सहज अतीन्द्रियज्ञान प्रगट होकर आत्मा को प्रसिद्ध करता है।

मुमुक्षु: इन्द्रियज्ञान में पहले निषेध हो तब अतीन्द्रियज्ञान प्रगट होता है?

पू. लालचंदभाई: हाँ! विधि-निषेध इसके (आत्मा के) जोर से, अकेला वहाँ नहीं। मैं अतीन्द्रियज्ञानमय महापदार्थ हूँ और इन्द्रियज्ञान पराश्रित है, वो मेरा परिणाम नहीं है, मेरा ज्ञान नहीं है, वो मेरी चीज नहीं है। इन्द्रियज्ञान मेरी चीज ही नहीं है। राग तो मेरा नहीं (है) परंतु इन्द्रियज्ञान भी मेरा

नहीं है। ममता छूट जाती है, अनुभूति हो जाती है। बाद में इन्द्रियज्ञान तो रहता है। राग भी रहता है और इन्द्रियज्ञान भी रहता है। मगर स्वामीपना छूट जाता है, स्वामीपना छूट जाता है, एकत्वबुद्धि छूट जाती है। इतना फायदा चौथे गुणस्थान में होता है। इन्द्रियज्ञान भी रहता है, राग भी रहता है। नहीं रहता (है) ऐसा नहीं है। राग राग में है; इन्द्रियज्ञान इन्द्रियज्ञान में है (और) मैं मेरे में हूँ। विभाजन पड़ जाती है भेदज्ञान के अंदर।

मुमुक्षु: ये इन्द्रियज्ञान और राग, ये दोनों एक जैसे ही हैं क्या?

पू. लालचंदभाई: एक अपेक्षा से एक जैसे हैं, एक अपेक्षा से एक जैसे हैं।

मुमुक्षु: वो कौनसी अपेक्षा है?

पू. लालचंदभाई: क्योंकि राग आत्मा को प्रसिद्ध नहीं करता है और इन्द्रियज्ञान भी आत्मा को प्रसिद्ध नहीं करता है इसलिए एक जैसे हैं। तो भी इन्द्रियज्ञान में जानने की क्रिया होती है और मनवाले प्राणी सविकल्प भेदज्ञान करते हैं इतना उसका कार्य है। आत्मा तक वो ले जाता है (मगर) आत्मा में प्रवेश नहीं करता है मानसिकज्ञान।

मुमुक्षु: इसका जरा विशेष खुलासा (करें)?

पू. लालचंदभाई: संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव सम्यग्दर्शन का पात्र होता है। असंज्ञी (तो) सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता नहीं है। तो संज्ञी जीव हुआ। आहाहा! अनंत-अनंत कल्पकाल चले जायें। समझे? तब ये मनुष्यभव मिलता है। और संज्ञी पंचेन्द्रियपना मिला, मनवाला प्राणी हुआ, मन मिल गया (उसको)। तो मन के अंदर अपने प्रयोजनभूत तत्त्व के अंदर लगा देना मन को, भेदज्ञान करना। तो ये जो मन है, वो मन की एक शक्ति अनुमान है, अनुमान। अनुमान में निर्णय की शक्ति है। अनुभव नहीं करता है मन, मगर निर्णय की शक्ति मन में आती है। कैसा आता है भावमन में निर्णय? (कि) जो अनुभव आया आत्मानुभव... मन से ऐसा निर्णय हो जाता है, अभयकुमार जी! कि मानो शुद्धात्मा हाथ में आ गया।

मुमुक्षु: इन्द्रियज्ञान में ही?

पू. लालचंदभाई: इन्द्रियज्ञान नहीं; मानसिकज्ञान लेना। बाहरी ज्ञान की ताकत नहीं है, मन, मन वो इन्द्रियज्ञान है, भावमन है। मगर उसके अंदर ऐसा सविकल्प भेदज्ञान की शक्ति है; सविकल्प भेदज्ञान भावमन में होता है। विनाशिक होने पर भी उपादेय है, ऐसा लिखा है कलश-टीका में। है तो विनाशिक, तो भी प्राथमिक भूमिका में उसको मन द्वारा, भावमन द्वारा, स्व-पर का विभाग स्पष्टरूप से भासता है कि ये ज्ञायक ही हूँ, मैं कर्ता नहीं हूँ; पर का ज्ञाता नहीं हूँ, ज्ञायक का ज्ञाता हूँ। ऐसा भावमन में त्रिकाली द्रव्य का निर्णय आ जाता है तो बाद में, थोड़े काल में अनुभूति हो जाती है। किसी को तो अन्तर्मुहूर्त में होती है, किसी को दो-चार महीने लगते भी हैं। ऐसा निर्णय-अपूर्व निर्णय जो (कि) पंचाध्यायीकर्ता ने 'उसको सम्यग्दर्शन हो गया' ऐसा कह दिया, नैगमनय लगा दिया, है नहीं (अभी सम्यग्दर्शन)। तो ऐसा मनवाला प्राणी है न, (उसके पास) भेदज्ञान की शक्ति (है)। परंतु भेदज्ञान ही करना चाहिए, मन का (सद)उपयोग भेदज्ञान है। तो ऐसा निर्णय मानसिकज्ञान में आ जाता है। बाद में अतिक्रांत होकर अनुभव (होता है)।

मुमुक्षु: (तो) इन्द्रियज्ञान और मानसिकज्ञान दोनों एक ही हैं?

पू. लालचंदभाई: नहीं! पाँच इन्द्रिय हैं न, उन पाँच इन्द्रियों का विषय आत्मा नहीं है।

मुमुक्षु: बराबर!

पू. लालचंदभाई: मन का विषय रूपी और अरूपी दोनों ही हैं, तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय १, सूत्र २४) में लिखा (है)। पाँच इन्द्रिय का विषय तो अकेला रूपी है। मन का विषय रूपी और अरूपी दो हैं।

मुमुक्षु: मन और भाव - ये दोनों एक ही चीज हैं कि अलग-अलग हैं?

पू. लालचंदभाई: नहीं! भावमन वो क्षयोपशम है, ज्ञान की पर्याय के क्षयोपशम का नाम भावमन है। और इधर (छाती में) जो आठ पँखुड़ी का खुला हुआ (जो) है वो द्रव्यमन है। जैसे ये (कान) द्रव्येन्द्रिय है न, ऐसी अंदर (छाती में एक) द्रव्येन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से, उसके आश्रय से वो विचार चलता है अंदर में, इधर (छाती में)। operation (ऑपरेशन) करे तो दिखाई नहीं देता (है) इतना सूक्ष्म रजकण है, मनोवर्गणा से बना हुआ है, द्रव्यमन।

मुमुक्षु: डॉक्टर साहब हार्ट बदल देते हैं तो वो मन नहीं है?

पू. लालचंदभाई: मन, द्रव्यमन को (वो) जान नहीं सकता है। द्रव्यमन को वो जान नहीं सकता है।

मुमुक्षु: ऐसा कहा जाता है कि आत्मा में अनंतगुण हैं, पर हमें तो उसकी कोई झलक दिखाई नहीं देती है। तो आप कोई उपाय बताईये कि जिससे झलक दिखाई दे?

पू. लालचंदभाई: पर की महिमा छूटे और अपनी महिमा आवे तो-तो झलक दिखाई देवे। या तो सत्ता की महिमा या फिर लक्ष्मी की महिमा। सेठी जी! पी.सी.सेठी क्या नाम? हाँ! पूनमभाई सेठी हाँ! इसकी (लक्ष्मी की) महिमा आवे तो आत्मा की महिमा (नहीं आवे)। इस काल में तो पैसे का लोभ बहुत, आहाहा! बढ़ गया है, बहुत बढ़ गया, अगन लगे, अगन! आहाहा! एक ईर्ष्या की अगन भी लग गई है। ऐसा देवलाली में मैंने शास्त्र का आधार करके बोला था कि मुमुक्षु-मुमुक्षु (के) बीच में ईर्ष्या बहुत बढ़ती है पंचमकाल में, ऐसा बताया था। मत्सर्य, मत्सर्य शब्द आया है, ईर्ष्या। गुणभद्र आचार्य के (आत्मानुषासन गाथा २१५), (परमागम चिंतामणि) पुस्तक है, २००० (बोल कि) पुस्तक निकली हैं न? हाँ! परमागम चिंतामणि (बोल १७९), उसमें आया। उसमें मैंने बताया था (कि) मुमुक्षु-मुमुक्षु के बीच में एक दूसरे को काटते हैं। आहाहा! क्या काल आ गया!

मुमुक्षु: तो ये बात आचार्य को पहले से (ही) मालूम थी सब?

पू. लालचंदभाई: पहले से ही मालूम थी, उनके ज्ञान में सब आ गया था।

मुमुक्षु: मतलब जो कुछ हो रहा है सब क्रमबद्ध में ही हो रहा है?

पू. लालचंदभाई: क्रमबद्ध हुआ मगर क्रमबद्ध का ज्ञान क्या नहीं होता है? ज्ञान तो होता है न। तो ज्ञान होता है तो क्या अक्रम होता है? क्रमबद्ध जो होनेवाला है उसका ज्ञान हो जाता है। पर्यायें सब क्रमबद्ध ही हैं। भैया, क्रमबद्ध का अर्थ आत्मा अकर्ता है! क्रमबद्ध का अर्थ, प्रयोजन क्या है? कि पर्याय होने योग्य होती है, मैं करनेवाला नहीं हूँ; तो दृष्टि द्रव्य पर आ जाती है, ज्ञाता बन जाता है साक्षात्। भैया, क्रमबद्ध का फल वीतरागता है।

मुमुक्षु: क्रमबद्ध के संबंध में एक प्रश्न है कि सिद्ध भगवान तीनलोक, तीनकाल की प्रत्येक

पर्याय को युगपद् जानते हैं।

पू. लालचंदभाई: हाँ जानते हैं।

मुमुक्षु: तो उनके क्रमबद्धपना कैसे हुआ? पर्याय तो क्रमबद्ध होती है, वो तो एक साथ जान लेते हैं, तो उनको क्रमबद्ध कैसे लागू पड़ेगा?

पू. लालचंदभाई: जानना अलग है और जहाँ क्रमबद्ध पर्याय होती है वो तो अलग है। पर्याय तो क्रमबद्ध ही होती है। जैसा होने योग्य होता है ऐसा ज्ञान में पहले से आ जाता है। तो ज्ञान में आ जाता है, तो क्या क्रम टूट जाता है? क्रम टूटनेवाला नहीं है। क्रमबद्ध ही पर्याय है, उसमें फर्क नहीं है। देखो! डॉक्टर (हुकुमचन्द जी भारिल्ल) साहब ने लगाया क्रमबद्ध का पुस्तक, बराबर है। आहाहा!

गुरुदेव ने बहुत प्रशंसा की है, डॉक्टर साहब की। आहाहा! (गुरुदेव ने) ऐसा कहा था कि उसका उघाड़ (क्षयोपशम) बहुत है और वहाँ तक भी कहा था कि वो तत्त्व प्रचार करेगा। आहाहा! तो डॉक्टर साहब ने भी प्रतिज्ञा ली थी उनके सामने कि जिंदगी भर मैं तत्त्व प्रचार करूँगा। आहाहा!

मुमुक्षु: प्रश्न तो ये है कि सिद्ध भगवान की पर्याय भी क्रमबद्ध होती है क्या?

पू. लालचंदभाई: हाँ! सभी जीवों की। जड़ और चेतन सबकी पर्याय क्रमबद्ध होती है। इसका अर्थ क्या है कि द्रव्य पर्याय का करनेवाला नहीं है। इसमें से वो निकालना। स्वच्छंद की बात नहीं है, स्वभाव की बात है अभी।

मुमुक्षु: बहुत सुंदर! एक भाई पूछते हैं कि हम पहली बार शिविर में आये हैं। हमें सब कुछ नया-नया लगता है। हमें कहाँ से शुरुआत करनी चाहिए?

पू. लालचंदभाई: प्रथम आत्मा को जानना वहाँ से शुरूआत होती है। वस्तु है कि नहीं? आत्मा है कि नहीं?

मुमुक्षु: है।

पू. लालचंदभाई: जैसे ये (पर-पदार्थ) है तो आत्मा भी वस्तु है कि नहीं?

मुमुक्षु: है।

पू. लालचंदभाई: तो वस्तु है, तो वस्तु को प्रसिद्ध करनेवाला उपयोग भी है कि नहीं?

मुमुक्षु: है।

पू. लालचंदभाई: उपयोग प्रगट होता है, तो उस उपयोग में जाननहार जानने में आता है, ऐसी वहाँ से शुरुआत होती है। प्रथम आत्मा को जानो। क्या कहा?

मुमुक्षु: प्रथम आत्मा को जानो।

पू. लालचंदभाई: ऐसा कहा है कुंदकुंदाचार्य भगवान ने।

मुमुक्षु: उनका तो ये आशय है कि हम स्वाध्याय करें तो कौनसी पुस्तक पहले पढ़ें?

पू. लालचंदभाई: वो तो ठीक है। जिसमें शुद्धात्मा का स्वरूप और भेदज्ञान की प्रधानता हो, जिसमें अकर्ता-ज्ञाता की प्रधानता हो ऐसा शास्त्र पढ़ना चाहिए। जिसमें कर्ता है, और यह (संबंध) है, निमित्त-नैमित्तिक संबंध है - ऐसा, ऐसी शुरुआत नहीं करना; नहीं तो कर्ता का शल्य हो जायेगा। आहाहा! पहले द्रव्यानुयोग का अभ्यास करना - ऐसा लिखा है टोडरमल जी साहब ने। बोलो! पहले

शुरुआत में द्रव्यानुयोग का अभ्यास करना। चरणानुयोग और प्रथमानुयोग और करणानुयोग का (अभ्यास) बाद में करना। निर्विकल्पध्यान में नहीं रहते हैं ज्ञानी तो सभी शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। चारों अनुयोग हैं, जिनवाणी है, मगर अध्ययन में जिंदगी चली जाये तो? ऐसा नहीं करना! भेदज्ञान करके अपने उपयोग में आत्मा को ढूँढ लेना।

मुमुक्षु: बराबर।

पू. लालचंदभाई: कहाँ तक है? टाइम हो जाए तो थोड़ा बन्द कर दो।

मुमुक्षु: पाँच मिनिट हैं।

पू. लालचंदभाई: पाँच मिनिट हैं। ठीक!

मुमुक्षु: एक प्रश्न आया है (कि) मुमुक्षु का दैनिक जीवन और आचरण कैसा होना चाहिए?

पू. लालचंदभाई: भेदज्ञान का निरंतर अभ्यास करता है वो आचरण है, उसमें मिथ्यात्व गलता है। मिथ्यात्व गलता है (तो) उसके साथ-साथ में पाप का परिणाम भी मर्यादा में आ जाता है। निर्गल (बेहद पाप) प्रवृत्ति नहीं होती है, स्वच्छंदी प्रवृत्ति नहीं होती है उसकी।

मुमुक्षु: तो कुछ खाने-पीने की बात में कुछ फर्क पड़ता है? क्योंकि वो आशय लगता है प्रश्नकार का।

पू. लालचंदभाई: रोटी, दाल, सब्जी, चावल खाना बस। दारू नहीं, माँस नहीं, अंडा नहीं, अभक्ष्य नहीं खाना। बस! ये कंद नहीं खाना, जिसमें अनंत जीव हैं। बस! सादा भोजन ले लेना। रोटी, सब्जी, दाल, भात।

मुमुक्षु: कब खाना?

पू. लालचंदभाई: भूख लगे तब खाना।

मुमुक्षु: दिन में? रात में?

पू. लालचंदभाई: नहीं! दिन में, रात में नहीं। रात्रि भोजन नहीं। आहाहा! दिन की बात है।

मुमुक्षु: एक प्रश्न है, राग-द्वेष के परिणामों का कर्ता कौन है? क्या इससे आत्मा प्रभावित होता है?

पू. लालचंदभाई: आत्मा बिल्कुल प्रभावित नहीं होता है; और राग-द्वेष का कर्ता, परिणाम का कर्ता परिणाम है। पर से (यानि) कर्मकृत नहीं है और जीवकृत भी नहीं है, पर्यायकृत है राग। आहाहा! आता है, कर्म की सापेक्षता से ये पुद्गल का परिणाम है, पुद्गल के साथ व्याप्य-व्यापक संबंध है, आत्मा के साथ व्याप्य-व्यापक संबंध नहीं है ऐसा आता है। और निमित्त सापेक्ष के कथन से पुद्गल का परिणाम कहा जाता है। सचमुच तो परिणाम का कर्ता परिणाम ही है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है; आत्मा कर्ता हो तो कर देवे मोक्ष अभी।

मैं एक दृष्टांत देता था कभी कभी। इधर नहीं दिया, कि सीमंधर भगवान हैं न? तो इधर (भरतक्षेत्र में) १३वें जब तीर्थंकर परमात्मा होंगे न, तब उनका (सीमंधर भगवान का) मोक्ष होगा। तो इधर से कर्ताबुद्धिवालों ने समुच्चय मिलकर विनती की कि 'भगवान! एक हमारा ऐसा काम हम आपको सौंपते हैं कि आप (आपका) मोक्ष कर दो। क्योंकि आपकी वाणी में आया है कि वो १३वें

गुणस्थान(वाला) भी संसारी है, (तो) वो हमको सुहाता नहीं है। और (आपको) अनंतवीर्य प्रगट हो गया है; और (यह) अच्छा काम है (कि) मोक्ष की पर्याय कर दो'। तो वहाँ से ये जवाब आया कि 'तेरा प्रश्न मूर्खता से भरा हुआ है! पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है; वो जाननेवाला है, करनेवाला नहीं है। वो क्रमबद्ध पर्याय (अपने) स्वकाल में पर्याय प्रगट होगी; आगे-पीछे होती नहीं है' - ऐसा है।

मुमुक्षु: बनारसीदास जी ने लिखा है कर्ता परिणाम ही धर्म।

पू. लालचंदभाई: हाँ।

मुमुक्षु: वो तो द्रव्य को कर्ता कहते हैं, पर्याय को कर्म कहते हैं।

पू. लालचंदभाई: बराबर है!

मुमुक्षु: आप कहते हैं परिणाम का कर्ता परिणाम है?

पू. लालचंदभाई: हाँ! बराबर है! दोनों ही बात बराबर हैं। बनारसीदास जी ने कहा है कि द्रव्य कर्ता है और परिणाम कर्म है, वो बात भी सही है कि परिणमे सो कर्ता और परिणाम सो कर्म, ऐसे कर्ता-कर्म की व्याख्या एक द्रव्य के बीच में है, वो व्यवहारनय का कथन है; और परिणाम का कर्ता परिणाम है और द्रव्य अकर्ता है वो निश्चयनय का कथन है। बनारसीदास जी ने (जो) लिखा बराबर लिखा है। कौनसे नय का कथन है और यहाँ क्या प्रयोजन सिद्ध करना है - जिनागम का मर्म समझने के लिए (यह) खास (बात है)। कि पर से परिणाम होता नहीं, स्वयं परिणमता है, अपने-आप परिणमता है; तो परिणमे सो कर्ता और परिणाम सो कर्म, कर्ता-कर्म एक द्रव्य में होता है वो व्यवहारनय का कथन है।

डॉक्टर हुकुमचंद जी भारिल्ल: त्रिकाली उपादान कि अपेक्षा लगाओ और स्वयं उपादान कि अपेक्षा।

पू. लालचंदभाई: हाँ! परिणमता है सो कर्ता और परिणाम सो कर्म। व्याप्य-व्यापक लिखा है, बहुत लिखा है, मगर सचमुच परिणाम का कर्ता परिणाम है; द्रव्य अकारक है, कर्ता नहीं है - उसमें साध्य की सिद्धि होती है। साध्य की सिद्धि होने के बाद परिणमता है ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप से आत्मा, साधक, तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम का कर्ता भी आत्मा है। परिणमता है न, मोक्षमार्गरूप से, तो मोक्षमार्ग का कर्ता कहा जाता है और मोक्षमार्ग अपना कर्म - कार्य है, ऐसा कहा जाता है; वो व्यवहारनय का कथन है।

मुमुक्षु: साहिब, परिणाम का कर्ता परिणाम है तो इसका मतलब हम तो करते हैं न! तो फिर हम सम्यग्दर्शन तो कर नहीं सकते?

पू. लालचंदभाई: सम्यग्दर्शन का जो विषय है उसको आप जान सकते हैं कि नहीं जान सकते हैं?

मुमुक्षु: तो जानना भी तो परिणाम हुआ?

पू. लालचंदभाई: परिणाम जानता है न? परिणाम अपने को जाने उस परिणाम का नाम ही सम्यग्दर्शन है। जो परिणाम अपनी आत्मा को जाने-माने उसका नाम ही सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है, भैया; परिणाम पर को जानने में रुक जावे, पर को मानने में रुक जावे वो तो मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान

है।

मुमुक्षु: आत्मा को जाननेवाला परिणाम वो अपन कर सकते हैं क्या?

पू. लालचंदभाई: कर सकते नहीं; होता है, ऐसा जानता है। होता है (कि) अभिमुख हो गया परिणाम तो कहा जाता है कि आत्मा ने पुरुषार्थ किया, सम्यग्दर्शन प्रगट किया (ऐसा) कह सकते हैं।

मुमुक्षु: वो परिणाम अपने-आप होगा कि हमें करना पड़ेगा?

पू. लालचंदभाई: नहीं! करना नहीं पड़ेगा। त्रिकाली द्रव्य को जानो उसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान है। दृष्टि आप द्रव्य पर लगाओ तो अपने-आप परिणाम शुद्ध हो जायेगा। शुद्ध को जो जानता है, वो शुद्ध हो जाता है।

जो शुद्ध जाने आत्मको, वह शुद्ध आत्म ही प्राप्त हो ।

अनशुद्ध जाने आत्मको, अनशुद्ध आत्म हि प्राप्त हो (समयसार गाथा १८६)

भाईसाहब (डाक्टर भारिलजी) ने एक बार राजकोट के अंदर शिविर में ऐसा चलाया, कुंदकुंद शतक की २-३ गाथा। समझे! तो अष्टपाहुड़ में से एक गाथा चलाई। तो आत्मज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम (अर्थात्) साधक हो गया, तो भी आत्मा ही उपादेय है, आत्मा ही शरण है, आत्मा के परिणाम आत्मा को शरणभूत नहीं हैं।

मुमुक्षु: बराबर! अभी आपके पधारने के पहले भी यही गाथा यहाँ चलती थी।

पू. लालचंदभाई: चलती थी। बहुत अच्छी गाथा (है)! हम तो खुश हो गए। वहाँ से जरा हमको खुशी भी हो गई। ठीक है! अभी सत् चलेगा, ऐसा भी भाव हो गया, ऐसा भी भाव आ गया। लगता है तो बोलता हूँ। कोई पक्षपात नहीं है। पंडित जी मेरे कोई सगेवाले (संबंधी) नहीं हैं।

मुमुक्षु: आपका आशीर्वाद रहेगा साहब तो बहुत लंबा चलेगा।

पू. लालचंदभाई: हाँ! चलनेवाला है। ये सत्य तो पंचम काल के अंत तक ये गुरुदेव की वाणी निमित्त होगी सम्यग्दर्शन में - ऐसा है।

मुमुक्षु: बोलो महावीर भगवान की जय।।

(Last few seconds of data is missing in the video. Can be copied from Apoorv Shrut Dhara Pravachan A1_13_04)

तारीख ०२-०८-१९९०:

जिनवाणी स्तुति

मुमुक्षु: आदरणीय भाईश्री! आज प्रातः के प्रवचन में आया था ज्ञेय से ज्ञान नहीं होता है। और यदि ज्ञेय से ज्ञान हो तो ज्ञान पराधीन हो जाये।

पू. लालचंदभाई: (हाँ)।

मुमुक्षु: इसका तात्पर्य तो यह है कि हम जिनागम का आश्रय नहीं करें, नहीं तो हमारा ज्ञान पराधीन हो जायेगा। तो हम क्या करें?

पू. लालचंदभाई: क्या? फिर से, अकेली अंतिम लाइन।

मुमुक्षु: ज्ञेय से ज्ञान होता है तो ज्ञान पराधीन हो जाता है।

पू. लालचंदभाई: हाँ।

मुमुक्षु: तो हम शास्त्रों का अभ्यास करें, आगम का आश्रय लें कि नहीं लें?

पू. लालचंदभाई: देखो! श्रद्धा में, अभिप्राय में तो ऐसा रखना चाहिए कि अपने आश्रय से ही ज्ञान होता है, तीनोंकाल। और जहाँ तक उपयोग अंदर में न आवे, तहाँ तक जिनागम का अवलंबन रहता है। ये जिनागम में, अवलंबन में ही आया है (अर्थात्) जिनागम में (ही) लिखा है कि मेरा अवलंबन छोड़ दे और तेरा अवलंबन ले। तो जिनागम का अभ्यास करना (मगर) श्रद्धा में तो ऐसा रखना कि आत्मा के लक्ष से ही ज्ञान उत्पन्न होगा; मगर आत्मा के, वहाँ स्वभाव तक (तो) मैं पहुँचता नहीं हूँ, मेरी पहुँच नहीं है, इतना मेरा पुरुषार्थ लगता नहीं है तो जिनागम का अवलंबन लेता हूँ।

मुमुक्षु: आपने फरमाया कि श्रद्धा में तो ऐसा रखना कि जिनागम का अभ्यास नहीं करना।

पू. लालचंदभाई: नहीं करना (ऐसा) नहीं! पर के लक्ष से ज्ञान होगा ही नहीं!

मुमुक्षु: ऐसा अभिप्राय रखना।

पू. लालचंदभाई: हाँ! रखना। और अंदर में उपयोग (में) न लगे तो जिनागम का अवलंबन लेना।

मुमुक्षु: इसमें छल नहीं है? ये तो अलग-अलग बात है?

पू. लालचंदभाई: छल नहीं है, छल नहीं है। उपयोग बाहर भटकता था न, बाहर! इस वजह से जिनागम का स्वाध्याय करना, चिंतवन करना।

मुमुक्षु: हाँ जी, बराबर।

एक प्रश्न है स्व-पर का प्रतिभास पर्याय में ही होता है तो कौनसी पर्याय इस स्व-पर (के) प्रतिभासवाली पर्याय को विषय करती है अनुभव के समय में? दो पर्यायें होती हैं? एक तो वो जिसमें स्व-पर का प्रतिभास होता है और दूसरी पर्याय वो जो स्व-पर के प्रतिभासवाली पर्याय को जानती है। ऐसा है क्या?

पू. लालचंदभाई: स्व-पर का प्रतिभास अज्ञानी जीव को भी अपने ज्ञान उपयोग में होता है। जब अनुभव का काल आता है तब वह 'मैं पर को जानता नहीं हूँ, स्व को ही जाननहार को (ही) जानता हूँ' ऐसा भेदज्ञान करने से उपयोग पर से हटकर स्वसन्मुख हो जाता है। तो स्वप्रकाशक ऐसा लक्षण है ज्ञान का, उसमें अनुभूति होती है। तो उसमें स्वपरप्रकाशक का ज्ञान आ जाता है। स्वप्रकाशक पूर्वक स्वपरप्रकाशक का ज्ञान अंदर का भी होता है और बाहर का भी हो जाता है।

मुमुक्षु: ये दोनों पर्यायें एक ही हैं कि अलग-अलग?

पू. लालचंदभाई: एक ही पर्याय में स्वपरप्रकाशक ज्ञान में प्रतिभास होता है मगर भेदज्ञान करना चाहिए। स्वपरप्रकाशक लक्षण प्रमाण, व्यवहारनय का विषय है। अभी स्व और पर दो के प्रतिभास में उपयोग अपनी आत्मा में लगाना चाहिए, पर से हटकर, तो अनुभव होता है। तो अनुभव होने के समय अतीन्द्रियज्ञान प्रगट होता है, उसमें स्व और आनंद (अर्थात्) पर, वो जानने में आ जाता है। और बाहर में आत्मा भी जानने में आता है और देव-गुरु-शास्त्र भी जानने में आ जाता है।

मुमुक्षु: जयसेनाचार्य ने अनुभव को **शुद्ध आत्माभिमुख परिणाम** (समयसार गाथा ३२० कि टीका) कहा है।

पू. लालचंदभाई: बराबर।

मुमुक्षु: इसका क्या मतलब है?

पू. लालचंदभाई: **शुद्धोपयोग** कहो कि **आत्माभिमुख परिणाम** कहो, एक ही बात है। शुद्धात्मा का अनुभव कहो, स्वानुभव कहो कि शुद्धात्म अभिमुख परिणाम कहो, अनुभूति के कई नाम चलते हैं। **शुद्ध आत्माभिमुख परिणाम** यानि शुद्धात्मा के अभिमुख जो उपयोग - परिणाम हुआ, उसका नाम स्वानुभव है; पर का लक्ष छूट गया (और) आत्मा का लक्ष हो गया।

मुमुक्षु: जब उपयोग बाहर जाता है तब भी ज्ञानी को आत्मा का अवलंबन होता है कि नहीं होता है?

पू. लालचंदभाई: जरूर, Definitely (अवश्य) हो रहा है।

मुमुक्षु: तो उसको शुद्धात्माभिमुख परिणाम कहना कि नहीं कहना?

पू. लालचंदभाई: हाँ! कहना है परिणतिरूप, उपयोगरूप नहीं है।

मुमुक्षु: तो शुद्धात्माभिमुख परिणाम दो प्रकार का हुआ, एक उपयोग(रूप और) एक परिणतिरूप?

पू. लालचंदभाई: दो प्रकार का है, साधक है न। केवली होगा तो एक प्रकार का होगा। श्रुतज्ञान है, साधक है तो परिणतिरूप व्यवस्था निरंतर है (और) उपयोगरूप कभी-कभी हो जाता है।

मुमुक्षु: तो परिणतिरूप जो है वह किस गुण की पर्याय है?

पू. लालचंदभाई: ज्ञान गुण की पर्याय है।

मुमुक्षु: परिणति का मतलब क्या लब्धरूप से है?

पू. लालचंदभाई: नहीं! लब्ध नहीं। उत्पाद-व्ययरूप है।

मुमुक्षु: लब्धरूप में और उत्पाद-व्यय में क्या अंतर है?

पू. लालचंदभाई: लब्ध में व्यापार नहीं है इसलिए लब्ध। व्यापार नहीं है। जानने की क्रिया होती है मगर उपयोग अभिमुख नहीं हो तो इसका नाम लब्ध कहो कि परिणति कहो। निरंतर परिणति रहती है, अछिन्न धारावाही। उपयोग अंदर में कभी-कभी आता है।

मुमुक्षु: दूसरा प्रश्न है, पर्याय त्रिकाली आत्मा से किस अपेक्षा तन्मय होती है अनुभव के काल में?

पू. लालचंदभाई: तन्मय होती है; एक अपेक्षा से निश्चय से होती है, एक अपेक्षा से व्यवहार से। तन्मय होती है इसका अर्थ ये है कि पर्याय और द्रव्य का भेद दिखाई देता नहीं है; एकाकार होती है। वो परिणाम आत्मा बन जाता है, आत्मा बनने पर भी वो पर्याय ध्रुव नहीं बनती है, पर्याय तो पर्याय रहती है।

मुमुक्षु: आप फरमाते हैं कि वो पर्याय और द्रव्य का भेद दिखाई नहीं देता है?

पू. लालचंदभाई: अर्थात् भेद तो है परंतु भेद दिखाई देता नहीं है, इसका नाम अनुभव है।

मुमुक्षु: वो तो अधूरा ज्ञान ही हुआ कि भेद है लेकिन भेद दिख नहीं रहा है?

पू. लालचंदभाई: नहीं! अधूरा नहीं। साध्य की सिद्धि इसमें है। भेद दिखे तो निर्विकल्पध्यान नहीं आता है। और भेद होवे ही नहीं तो अनुभूति नहीं होती है। भेद का लक्ष नहीं है, अभेद होता है;

मगर अभेद भी वो कथंचित् अभेद है, सर्वथा अभेद नहीं (है)। जैसा गुण और गुणी सर्वथा अभेद है; ऐसे निर्मल पर्याय आत्मा के साथ कथंचित् तादात्म्य - कथंचित् अभेद है, कथंचित् भेदरूप भी है; ऐसा स्याद्वाद है।

मुमुक्षु: अभी आपने फरमाया कि भेद हो नहीं तो अनुभूति नहीं हो। इसका क्या मतलब है?

पू. लालचंदभाई: यानि जो पर्याय अपने से सर्वथा अभिन्न हो जाये और ध्रुव हो जाये तो अनुभव कैसे होवे? वो तो ध्रुव का अवलंबन लेती है पर्याय तो आत्मा हो जाती है तो अनुभव हो जाता है। ये सर्वथा भिन्न भी नहीं (है और) सर्वथा अभिन्न भी नहीं (है)। ऐसा आज एक प्रश्न आया था कि पर्याय निर्मल होती है तो आत्मा को छूती है कि नहीं छूती है? कि नहीं छूती (हुई) छू लेती है, नहीं छूती (हुई) छू लेती है। ऐसा छू-मंत्र है, ऐसा ये छू-मंत्र है!

मुमुक्षु: यह बढ़िया मंत्र है! नहीं छूती है का क्या मतलब है और छूती है का क्या मतलब है?

पू. लालचंदभाई: छूती है यानि आनंदमूर्ति के साथ तन्मय होकर पर्याय में आनंद प्रगट होता है तो छूती है। मगर नहीं छूती है इसका अर्थ क्या? कि वो सामान्यरूप नहीं होती है, विशेष-विशेषरूप होती है, सामान्यरूप नहीं हो जाती है। छूती हुई नहीं छूती है, छूती हुई नहीं छूती है। छू-मंत्र है!

मुमुक्षु: अनेकांत?

पू. लालचंदभाई: अनेकांत, वो स्याद्वाद, उसका नाम ही स्याद्वाद है; कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न।

मुमुक्षु: कभी तो आप सर्वथा कहने पर बहुत जोर देते हैं और कभी कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न, दोनों की बात करते हैं?

पू. लालचंदभाई: दोनों ही बराबर हैं। दोनों ही बात सम्यक् हैं, ऐसा ही स्वरूप है। दृष्टि की अपेक्षा से सर्वथा भिन्न है, ज्ञान की अपेक्षा से कथंचित् भिन्न (और) कथंचित् अभिन्न है; समय एक है।

मुमुक्षु: अनुभव के लिए जो प्रयत्न होगा उसमें तो दोनों अपेक्षाओं को तो ख्याल में रखना पड़ेगा कि किसी एक को ही ख्याल में रखना पड़ेगा?

पू. लालचंदभाई: वो ख्याल ही छोड़ देना, पर्याय को याद ही नहीं करना, मैं तो सामान्य चिदानंद आत्मा हूँ। बस! मेरे में प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है ऐसा लेना। अनुभव के काल में कथंचित् का व्यवहार नहीं लगाना, सर्वथा भिन्न है इसलिए मैं पर्याय का कर्ता नहीं हूँ अकर्ता ऐसा ज्ञायक हूँ, ऐसा जोर आने से पर्याय आत्मा अभिमुख होती है तो अनुभव होता है, तो वो एक ज्ञान प्रगट होता है, वो ज्ञान जानता है। श्रद्धा के साथ-साथ ज्ञान प्रगट होता है (वो) जानता है कथंचित् भिन्न-अभिन्न - वो ज्ञान जानता है। ऐसा है अभयकुमार जी! कि उत्पाद-व्यय से रहित और उत्पाद-व्यय से सहित, ऐसा एक समय में ज्ञान हो जाता है। जो ध्रुव परमात्मा है वो उत्पाद-व्यय से रहित और उत्पाद-व्यय से सहित (ऐसा) एक समय में ज्ञान हो जाता है; उसका नाम स्याद्वाद है।

मुमुक्षु: अभी आपने फरमाया कि अनुभव के काल में पर्याय को बिल्कुल भूल जाना, याद नहीं करना।

पू. लालचंदभाई: यानि उसका लक्ष छोड़ देना।

मुमुक्षु: तो उससे ज्ञान मिथ्या नहीं हो जायेगा?

पू. लालचंदभाई: मिथ्या नहीं होगा, सम्यक् हो जायेगा। **पर्यायार्थिक चक्षु सर्वथा बंद कर** दे (प्रवचनसार गाथा ११४) यानि पर्याय के भेद का लक्ष छोड़ दे। पर्याय छोड़ने की बात नहीं है, पर्याय का लक्ष, पर्याय में अहंबुद्धि छोड़ दे। यह (अपना) द्रव्यस्वभाव में अहंबुद्धि लगा दे तो अनुभव होगा। स्याद्वाद का जन्म अनुभूति के काल में आता है। **उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के** (समयसार कलश ४),ऐसा आता है न? आहाहा! ऐसा ...।

मुमुक्षु: एक प्रश्न आया है कि नयों के भेद-प्रभेद क्यों किये गये हैं? कृपया स्पष्ट करें।

पू. लालचंदभाई: समझाने के लिए, (क्यों) कि समझाने के लिए वही एक हथियार है। प्रमाण, नय, निक्षेप से समझाया जाता है और तो कोई उपाय है ही नहीं। समझाने के लिए नय हैं, अनुभव के लिए नय नहीं हैं। नय से अनुभव नहीं होता है, नय **अतिक्रान्त** (समयसार गाथा १४२, १४४) है।

मुमुक्षु: समयसार में ऐसा आता है कि **कारणानुविधायीनि कार्याणी** (समयसार आत्मख्याति टीका गाथा ६८) यानि कारण के अनुसार कार्य होता है, **कारण जैसा ही कार्य होता है**।

पू. लालचंदभाई: हाँ, बराबर है।

मुमुक्षु: और प्रवचनसार (गाथा ९६ भावार्थ) में आता है पर्याय **अहेतुक** है। तो दोनों में से कौनसी बात सही है?

पू. लालचंदभाई: हाँ! बराबर है। दोनों ही बात सही हैं। **कारणानुविधायी** जो पर्याय है **कार्याणी**, वो भी बराबर है। उसमें कारण अनुविधायी में ऐसा लेना, त्रिकाली द्रव्य नहीं लेना (बल्कि) पर्याय लेना। लोहा और सोना - पुद्गल एक जाति है। लोहे में से लोहे की पर्याय होती है, लोहे की, और सोने में सोने की पर्याय होती है। कारण जैसा कार्य। जो ऐसा कहो त्रिकाली द्रव्य के साथ, तो घटता नहीं है। पर्याय कारण है और पर्याय कार्य है। सोने और लोहे में सामान्य तो पुद्गल है, तो पुद्गल सामान्य कारण और दोनों का कार्य पर्याय, तो-तो तकलीफ होगी। जैसा कारण वैसा कार्य आना चाहिए। लोहे की पर्याय का कारण सुवर्ण हो और कार्य लोहे की पर्याय होवे, ऐसा नहीं (है)। समयसार में है। **कारणानुविधायीनि कार्याणी**, कार्य-कारण एक पर्याय में घटाओ, व्यवहार से द्रव्य के साथ कह सकते हैं, कहा जाता है, कोई बात नहीं।

मुमुक्षु: द्रव्य के साथ व्यवहार से लागू पड़ेगा?

पू. लालचंदभाई: व्यवहार से। निश्चय से तो पर्याय का कारण पर्याय है।

मुमुक्षु: तो साहब! पर्याय का कारण पर्याय है तो हम तो त्रिकाली द्रव्य हैं। तो फिर हम सम्यग्दर्शन का कारण कैसे बनेंगे? और कैसे सम्यग्दर्शन प्रगट करेंगे?

पू. लालचंदभाई: ये 'सम्यग्दर्शन का कारण मैं नहीं हूँ, मैं अकारण परमात्मा हूँ' तो सम्यग्दर्शन भज जायेगा! मैं सम्यग्दर्शन का कारण नहीं हूँ ऐसा अकारण परमात्मा हूँ, आहाहा! तो सम्यग्दर्शन अपने आप (हो जायेगा)। ऐसा आया है आत्मा कर्ता भी नहीं है और कारण भी नहीं है। कर्ता कहो तो व्याप्य-व्यापक संबंध बन जायेगा और कारण कहो तो नित्य कर्तापने का दोष आयेगा।

मुमुक्षु: तो अपनी पर्याय के साथ तो व्याप्य-व्यापक संबंध है न? द्रव्य का अपनी पर्याय के साथ

तो व्याप्य-व्यापक संबंध है न?

पू. लालचंदभाई: वो व्यवहार है, निश्चय नहीं है। पर से भिन्न करने के लिए निश्चय और अपना अकर्ता स्वभाव दृष्टि में लेने के लिए वो कथन व्यवहार का है।

मुमुक्षु: इन्द्रियज्ञान, मानसिकज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान; इन तीनों का स्वरूप स्पष्ट करें?

पू. लालचंदभाई: ये पाँच इन्द्रिय (का) उघाड़ हैं न - स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द - वो तो स्थूल रूपी पदार्थ को जानता है पाँच इन्द्रियज्ञान। और जो मन है न वो रूपी-अरूपी दोनों को जानता है, परोक्षरूप से, प्रत्यक्ष नहीं। धर्मास्तिकाय को जानता है, अधर्मास्तिकाय (को) जानता है, आत्मा अरूपी है उसको भी मन जानता है - परोक्षरूप से कि इसका नाम आत्मा है, ऐसा जानता है। मन के विषय रूपी-अरूपी दोनों ही हैं और पाँच इन्द्रिय का विषय अकेला रूपी है। बस! इतना फर्क है दोनों में। भेदज्ञान मनवाला प्राणी करता है। पाँच इन्द्रियवाला (असंज्ञी) प्राणी भेदज्ञान का विचार कर सकता नहीं।

मुमुक्षु: तो मन की सहायता से भेदविज्ञान हो सकता है क्या?

पू. लालचंदभाई: मन की सहायता से नहीं, आत्मा का लक्ष करने से मन ऐसा कार्य कर लेता है। आत्मा का लक्ष करने से मन ऐसा अपना काम करता है। ख्याल में भी आता है कि मन ऐसा काम करता है, भेदज्ञान का। ख्याल में भी आता है।

मुमुक्षु: भेदज्ञान मन का कार्य है कि आत्मा का कार्य (है)?

पू. लालचंदभाई: सविकल्प भेदज्ञान मन का कार्य है; निर्विकल्प भेदज्ञान आत्मा का कार्य है। दो प्रकार का भेदज्ञान है।

मुमुक्षु: दोनों में क्या अंतर है सविकल्प भेदज्ञान और निर्विकल्प भेदज्ञान (में)?

पू. लालचंदभाई: एक सविकल्प यानि मानसिकज्ञान है। मिथ्यादृष्टि जब आत्मा के सन्मुख होगा, (सन्मुख) होने का time (समय) होता है तो भेदज्ञान का विचार मानसिक (ज्ञान) में आता है और मन में निर्णय भी हो जाता है। इसका एक तो प्रवचनसार की ८० नम्बर की गाथा है, अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानना बाद में अपने (आत्मा) को जानना वो मुख्य हो जाता है। उसमें अमृतचंद्राचार्य की टीका में ऐसा आया कि मन के द्वारा, त्रिकाली द्रव्य को मन जान लेता है। जाणी ल्ये छे, क्या हिन्दी में? जान लेता है। और जयसेनाचार्य भगवान ने लिखा है कि सविकल्प स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा आत्मा को मन जान लेता है। बाद में अनुभव होता है वो प्रत्यक्ष है, (वहाँ) मन पावे विश्राम।

मुमुक्षु: मन जान लेता है ऐसा आप फरमाते हैं?

पू. लालचंदभाई: मन यानि भावमन, ज्ञान का उघाड़। भावमन, ज्ञान का उघाड़; द्रव्यमन तो जड़ है, वो तो जड़ है। क्षयोपशम की बात है, भावमन, उघाड़।

मुमुक्षु: अध्यात्म में कौनसे ज्ञान का उपयोग होता है, इन्द्रियज्ञान का कि मानसिकज्ञान का कि अतीन्द्रियज्ञान का? अध्यात्म में आत्मा के अनुभव के लिए कौनसा ज्ञान जरूरी है?

पू. लालचंदभाई: अतीन्द्रियज्ञान। इन्द्रियज्ञान का कार्य नहीं है, वो आत्मा को जानता नहीं है।

मुमुक्षु: परमपारिणामिक और पारिणामिकभाव का क्या स्वरूप है?

पू. लालचंदभाई: पारिणामिकभाव छहद्रव्य में रहता है और परमपारिणामिकभाव शुद्धात्मा में रहता है। परम यानि पूजनिक है, इसलिए परमपारिणामिकभाव कहा जाता है। पारिणामिकभाव तो परमाणु हैं न वो जड़, **जड़भावे जड़ परिणमे** (श्रीमद राजचन्द्र जी, भाद्रपद शुक्ल ८ १९४७, राजपद दोहरा २८) अनादि-अनंत वो उसका पारिणामिक स्वभाव है। कभी जड़ से चेतन होगा नहीं, वो पारिणामिकभाव उसका; और भगवान आत्मा परमपारिणामिकभाव से विराजमान है, उपादेय तत्त्व है।

मुमुक्षु: शुद्धात्मा भी तो छहद्रव्य में एक द्रव्य है न? तो उसमें भी पारिणामिकभाव है?

पू. लालचंदभाई: उसमें से आत्मा को निकाल लेना, छहद्रव्य में से। अपनी कार्य-सिद्धि में जीवतत्त्व को निकाल लेना, द्रव्य में से तत्त्व निकालना।

मुमुक्षु: बराबर! द्रव्य में से तत्त्व निकालना मतलब जैसे अनंत आत्मायें हैं, उसमें एक मैं अलग हूँ ऐसे निकालना?

पू. लालचंदभाई: पहले (प्रमाण का) द्रव्य को अलग पाड़ देना, बाद (में) द्रव्य को अलग पाड़ कर पर्यायमात्र से मैं भिन्न ऐसा जीवतत्त्व हूँ। देखो! जीव की एक तो जीव (तत्त्व) संबंधी भूल है कि जीवतत्त्व है ज्ञाता (और) मानता है कर्ता, वह जीवतत्त्व की भूल है। और जानता है स्व को और मानता है पर को जानता हूँ वो संवरतत्त्व की भूल है। दो भूल हैं जीव की। जीवतत्त्व की क्या भूल? है ज्ञाता, अकारक-अवेदक, मानता है कर्ता, तो जीवतत्त्व की भूल है वो। और ज्ञान की पर्याय में जानने में आ रहा है स्व और मानता है पर को जानता हूँ, वो संवरतत्त्व की भूल है। संवर प्रगट नहीं होगा। मान्यता की बात है वो, ध्यान रखना; श्रद्धा का दोष।

मुमुक्षु: स्व को जानने में संवरतत्त्व-संबंधी भूल का क्या प्रसंग है? स्व को जानता है लेकिन पर को जानता हूँ ऐसा मानता है, इसमें भी स्व-पर की भूल हुई। इसमें संवरतत्त्व क्यों लिया?

पू. लालचंदभाई: संवर नहीं उत्पन्न होगा। स्व को जानता हूँ मैं, तो संवर प्रगट होगा। मैं पर को जानता हूँ तो आस्रवतत्त्व प्रगट होगा, मिथ्यात्व होगा। ऐसा बंध अधिकार में आचार्य भगवान ने लिखा है कि धर्मास्तिकाय को मैं जानता हूँ (वह) अध्यवसान है (समयसार गाथा २६८-२६९); आस्रव प्रगट हो गया, संवर प्रगट नहीं होता है। पर को जानने से आस्रव प्रगट होता है, संवर प्रगट नहीं होता है। आत्मा को जानने से संवर प्रगट हो जाता है। संवर क्यों प्रगट नहीं होता है? मैं पर को जानता हूँ ऐसे पक्ष में पड़ा है, तो उपयोग अंदर तो आता नहीं है और अनुभव होता नहीं है; अनुभव का नाम संवर है।

मुमुक्षु: पर को जानना आस्रव है क्या?

पू. लालचंदभाई: पर को जानने के समय उसमें एकता करता है तो आस्रव है। और इन्द्रियज्ञान एकता करता ही है, अध्यवसान करता रहता है। ऐसा तो मोक्षमार्गप्रकाशक (अधिकार ४, मिथ्यादर्शन का स्वरूप, मिथ्यादर्शन कि प्रवृत्ति, जीव-अजीवतत्त्व संबंधी अयथार्थ श्रद्धान) में लिखा (कि) इन्द्रियज्ञान जिसको जानता है उसमें ममता कर लेता है। जाने हुये का श्रद्धान होता है; आत्मा को जाने तो आत्मा मैं हूँ ऐसा श्रद्धान प्रगट होता है, सम्यक्; और पर को जाने तो पर मेरा है ऐसा मिथ्याश्रद्धान (प्रगट होता है)। जाने हुए का श्रद्धान होता है, ये (समयसार) १७-१८ गाथा में अंदर (आत्मा) की बात है। और बाहर की बात लगा लेना कि मैं पर को जानता हूँ तो पर मेरा है, ऐसा मिथ्यात्व प्रगट हो जाता है

अज्ञानी को, अज्ञानी की बात है।

मुमुक्षु: पर को जानने में गलती नहीं है, उसमें एकता करने में भूल हुई?

पू. लालचंदभाई: जाने बिना एकता होती ही नहीं है। देह को जाने तो देह मेरा। जाने ही नहीं तो मेरा कहाँ से आया? इन्द्रियज्ञान जिसको जानता है उसमें अपनापन, उसकी मान्यता कर लेता है, ममत्व करता है। जाने हुए का श्रद्धान होता है; नहीं जाने हुए का श्रद्धान (तो) गधे के सींघ समान है। आहाहा!

मुमुक्षु: तो साहेब! देह में एकत्वबुद्धि का निषेध करना चाहिए। देह को जानना निषेध करने से तो ज्ञान का ही निषेध हो जायेगा?

पू. लालचंदभाई: नहीं! ज्ञान प्रगट होगा। देह को जानना बंद कर दे, तू तेरे को जान तो संवर प्रगट होगा। इन्द्रियज्ञान जीतने के बिना अतीन्द्रियज्ञान प्रगट नहीं होगा।

कर इन्द्रियजय ज्ञानस्वभाव रु, अधिक जाने आत्मको (समयसार गाथा ३१), इन्द्रियज्ञान से अधिक यानि मेरा अतीन्द्रियज्ञानमयी आत्मा अलग है तीनोंकाल। इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञानमयी आत्मा एक नहीं हुए हैं। ज्ञान से ज्ञान का भेदज्ञान करना, ज्ञान से ज्ञान का भेदज्ञान करना।

मुमुक्षु: कौनसे ज्ञान से?

पू. लालचंदभाई: हमारे पिताजी ने एक बार वो सुमेरूमलभाई हैं न, बैठे हैं बाजू में। उन सेठिया जी का पत्र-व्यवहार मेरे साथ था और बहुत (तत्त्व)प्रेमी, हमारे साथ प्रेम बहुत था सेठिया जी को। तो पत्र-व्यवहार चला करता था। तो पत्र लिखा मैंने। मेरे पिताजी ने कहा कि लालचंद! एक लाइन मेरी ओर से लिखो कि बापू जी लिखवाते हैं। कि बोलो मैं क्या लिखूँ? तो लिखो सेठिया जी पर (कि) 'ज्ञान से ज्ञान का भेदज्ञान करना' - ऐसा लिखावाया। वो इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान अलग-अलग चीज हैं, एक नहीं हैं। खिचड़ी करते हैं सब। इन्द्रियज्ञान को ही ज्ञान मानता है सारा जगत। इन्द्रियज्ञान से जुदा ज्ञान है। आहाहा! कलश-टीका में तो यहाँ तक कहा है कि नय ज्ञान से जुदा ज्ञान अनुभव में आता है। नय यानि विकल्पवाला है ज्ञान, भावेन्द्रिय।

मुमुक्षु: इन्द्रियज्ञान भी पर्याय है और अतीन्द्रियज्ञान भी पर्याय है।

पू. लालचंदभाई: हाँ! बराबर!

मुमुक्षु: तो पर्याय से पर्याय का भेदज्ञान करना?

पू. लालचंदभाई: पर्याय जब द्रव्य में अहम् करती है तब पर्याय का भेदज्ञान होता है। ज्ञान की पर्याय में आया कि मैं ज्ञानानंद परमात्मा हूँ, मैं अतीन्द्रियज्ञानमयी हूँ; इन्द्रियज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है; तो भेदज्ञान के काल में लक्ष ज्ञायक पर जाता है, पर्याय पर टिकता नहीं है। ज्ञान से शुरूआत करता है मगर अंदर में जाता है।

जैसे दीपचंदजी साहब ने लिखा न? कि उपयोग है न, तो (उसकी) डोरी से, डोरी से (रस्सी से, रस्सी से) अंदर चला जा, ऐसा शब्द है। डोरी से, डोरी से यानि उपयोग जहाँ से आता है ज्ञान, वहाँ चले जा। जैसे नल है न पानी का? तो पानी का नल है, प्रवाह, तो कहाँ से आता है? यहाँ से आता है, यहाँ से आता है तो depot (संग्रहस्थान) तक, तालाब तक चला जाता है, उपयोग। समझे? ऐसा। समझाने के

बहुत तरीके हैं। आहाहा! (जिसको) समझना हो उसके लिए हैं।

मुमुक्षु: आप बहुत तरीकों से समझाते हैं!

पू. लालचंदभाई: ये आचार्य भगवान ने समझाया है। बस! गुरुदेव ने समझाया है।

मुमुक्षु: एक प्रश्न है कि द्रव्यस्वभाव का पारिणामिकभाव अलग है और उपयोग का पारिणामिकभाव अलग है।

पू. लालचंदभाई: हाँ! वो पर्यायार्थिक(नय) का पारिणामिक है, उपयोग है न, वो पर्यायार्थिक(नय) का पारिणामिक है; और त्रिकाली द्रव्य है वो द्रव्यार्थिकनय का पारिणामिक है। पारिणामिक का अर्थ यह है कि जिसके अंदर कर्म की अपेक्षा आवे नहीं। उपयोग लक्षण है न? उसके अंदर कोई कर्म की अपेक्षा आती नहीं है। स्वभाव का अंश है न, इसलिए वो पर्यायार्थिकनय का पारिणामिक है। समयवर्ती है, नाशवान है न इसलिए। ये द्रव्यार्थिकनय का पारिणामिक है, द्रव्यस्वभाव।

मुमुक्षु: पर्यायार्थिकनय का पारिणामिक किसी काम में आता है, अनुभव के लिए?

पू. लालचंदभाई: हाँ! उसमें ही अनुभव होता है। वो पर्यायार्थिकनय का पारिणामिक उपयोग है न, उपयोग में उपयोग है ऐसा ले लेवे तो शुद्धोपयोग हो जाता है। उपयोग में उपयोग है ऐसा ज्ञान-श्रद्धान में जो आ जावे तो सामान्य जो उपयोग है, उसका convert (परिवर्तित) होकर शुद्धोपयोग हो जाता है, plus (जोड़) हो जाता है। उपयोग plus शुद्धता।

मुमुक्षु: बराबर। ये साहब जो आपने फरमाया कि उपयोग में उपयोग है।

पू. लालचंदभाई: हाँ!

मुमुक्षु: तो उसमें जब दोनों 'उपयोग' शब्द हैं उन दोनों का एक ही अर्थ है कि (दोनों) जुदा-जुदा हैं?

पू. लालचंदभाई: एक उपयोग का अर्थ पर्याय है। उपयोग में उपयोग है। तो पहला जो उपयोग है वह पर्याय है, पर्याय। और उसमें उपयोग है यानि द्रव्य सामान्य ज्ञायक है। ज्ञायक तन्मय है। आहाहा!

मुमुक्षु: ज्ञायक तो पर्याय से भिन्न है तो उपयोग में कैसे आएगा? वो पर्याय में कैसे आयेगा?

पू. लालचंदभाई: वो राग में नहीं है मगर तेरे उपयोग में ज्ञायक है, ऐसा ले। क्या कहा? कि राग में, संवर अधिकार है न? तो आस्रव में आत्मा नहीं है मगर उपयोग में आत्मा है - ऐसा लेने से शुद्धोपयोग हो जाता है तो उसका नाम संवरतत्त्व है, प्रगट हो गया। पर्याय में द्रव्य है बोलो। अनित्य, एक समय की पर्याय में द्रव्य सामान्य है क्योंकि द्रव्य सामान्य उसमें अनुभव में आता है इसलिए उसमें है। इसलिए उसमें है। मध्यस्थ होकर, मध्यस्थ होकर (समझना)

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहाँ समजवु तेह;

त्यां-त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह। (आत्मसिद्धिशास्त्र गाथा ८)

आहाहा! एकांत तर्क से सिद्धि नहीं होती है। आहाहा! तर्क पर तर्क चलता जाये, यह तो तर्क का तो अंत ही नहीं आता है। तर्क की भी limit (मर्यादा) होनी चाहिए।

मुमुक्षु: द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत् इस प्रकार तीन सत् हैं क्या? कि एक ही सत् के तीन

अंश हैं?

पू. लालचंदभाई: तीन सत् अलग-अलग ही हैं और तीन सत् मिलकर एक सत् भी है। द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत्, एक में दूसरे का अभाव - नास्ति है, ऐसे तीन सत् हैं; और तीन सत् मिलकर एक सत् भी है। पदार्थ की अपेक्षा से एक सत् है, नय की अपेक्षा से तीन सत् हैं। सारे पदार्थ की अपेक्षा से देखो **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ३०) एक सत् है; मगर वो नय से देखो तो उत्पाद सत् है, व्यय सत् है और ध्रुव सत् है। उत्पाद उत्पाद से है, व्यय से नहीं है, व्यय उत्पाद से नहीं है, उत्पाद ध्रुव से नहीं है, ध्रुव उत्पाद से नहीं है। तीनों सत् अलग-अलग हैं। आहाहा!

मुमुक्षु: लेकिन तत्त्वार्थसूत्र में तो **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** ...

पू. लालचंदभाई: बराबर है।

मुमुक्षु: एक सत् अखंड है ...

पू. लालचंदभाई: हाँ, अखंड है।

मुमुक्षु: तो ये तीन सत् अलग-अलग कैसे?

पू. लालचंदभाई: ज्ञेय की प्रधानता से अखंड है, ज्ञेय की प्रधानता से अखंड ही है। मगर उसमें ध्येय छुपा है, तो ध्रुव निकालना चाहिए।

मुमुक्षु: ध्रुव निकालने के लिए उस सत् को तोड़ना जरूरी है?

पू. लालचंदभाई: हाँ! जरूरी है, बहुत जरूरी है। ऐसा मैं एक दृष्टांत देता हूँ। दृष्टांत से तो जरा ख्याल में आवे। एक बड़े पंडित हैं बाहर गाँव के, नाम नहीं लेता हूँ। उन्होंने पूछा था २०-२५ साल पहले कि 'साहब! **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** एक है, आप उसके टुकड़े क्यों करते हैं सोनगढ़वाले?', ऐसा प्रश्न आया था मेरे पास। बड़े विद्वान पंडित प्रसिद्ध हैं। आहाहा! तो मैंने उनको समझाया था। तो इस बारे में थोड़ी सबको ही शंका-आशंका रहती है। एक सत् है कि तीन सत् हैं? सत् तो एक है। (फिर) तीन टुकड़े क्यों करते हैं? हाँ! ऐसा आता है प्रश्न। तो इसके लिए एक दृष्टांत समझने जैसा है।

मुंबई जैसी नगरी, नगरी है। तो उसमें वो कुर्ता, कुर्ता है न, कुर्ता? तो पहले तो कुर्ता सिलाकर पहनते थे। (फिर) तो सिलाई बढ़ गई, ७५-१०० रुपये मुंबई में हो गई। तो उसने विचार किया कि आखिर तो अपने को शरीर ढाँकना है न, अंग। शरीर को ढाँकना है न, तो दो मीटर कपड़ा लाया। लाकर, ओढ़कर जवेरी बाजार में निकला, भीड़ में। पगड़ी गई, टोपी तो गई। समझे? और डाघिया कहते हैं न वहाँ, श्मशान में जाते हैं, डाघिया। तो टोपी गई और पगड़ी तो गई, दो तो गई अभी और खुल्ला सिर तो है। अभी खुला (बिना सिला हुआ) पहनकर निकला! तो (एक ने पूछा) 'भाईसाहब! कौन गुजर गया?'। आगे गया, दूसरा मिला 'कौन गुजर गया?'। तीसरा मिला ... 'अरे! क्या है? क्यों पूछते हो?'। 'अरे! आपने कुर्ता नहीं पहना, (कपड़ा) लपेटा है तो डाघिया हो गया'। अरे! संसार में ऐसे चले नहीं, तो उसको विचार आया कि भले १०० रुपये, ७५ रुपये (सिलाई) लगे मगर दर्जी के पास जाऊँ।

दो मीटर कपड़ा लेकर (दर्जी के पास) गया। क्या बनाना है? कि कुर्ता बनाना है, कुर्ता बनाना है। अच्छा! नाप लिया। तब तक तो दो मीटर पड़ा था कपड़ा। बाद में उसने कैंची ली। नहीं! कैंची, काटना नहीं! काटेंगे नहीं तो कुर्ता होगा नहीं। ले जा तेरा कपड़ा। न भाईसाहब! कुर्ता (तो बनाना है)।

जैसा आप कहो तो काटो। तो काट दिया उसके सामने, हो, कैंची लगाई, निर्दयरूप से! निर्दयरूप से काट दिया। हाँ! मगर सिलूँगा ऐसा कि संधि दिखाई देगी नहीं, ऐसा सिलूँगा। संधि तो रहेगी मगर दिखाई देगी नहीं, ऐसा सिलूँगा। आहाहा! तो काटा और सिल भी दिया और कुर्ता पहन लिया, तो चला बराबर।

ऐसे **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** एक पदार्थ है, प्रमाण का विषय। उसमें से, उसमें ही हेय-उपादेय है; पर्याय हेय है और ध्रुव उपादेय है। तो पहले नय से काटना, नय से टुकड़ा करना और टुकड़े करके जोड़ देना। तो उपयोग **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** एक पूरा आत्मा ज्ञान में ज्ञेय बन जायेगा। कुर्ता बन जायेगा। काटने के बाद कुर्ता बन जायेगा। समझ में आया?

मुमुक्षु: बराबर। **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं** ये ३ मीटर कपड़ा लेना?

पू. लालचंदभाई: कपड़ा लेना। वो कपड़ा है। मगर उसको ऐसा ओढ़कर निकले तो नहीं चलेगा। **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है, तत्त्वार्थसूत्र में। लिखा है, मान्य है हमको। कौन ना बोलता है? मगर ऐसा **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** का ज्ञान करने से सम्यग्दर्शन नहीं होता है। परंतु सम्यग्दर्शन के काल में **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** का ज्ञान हो जाता है।

मुमुक्षु: वाह! वाह! वाह!

पू. लालचंदभाई: नहीं होता है (ऐसा) नहीं। तत्त्वार्थसूत्र भी आ जाता है, प्रवचनसार भी उसमें अनुभव में आ जाता है। समयसार के साथ-साथ प्रवचनसार मिल जाता है, तत्त्वार्थसूत्र भी मिल जाता है, धवल भी मिल जाता है। ऐसा है भैया!

मुमुक्षु: एक और प्रश्न है कि द्रव्य का निश्चय और पर्याय का निश्चय - ये दोनों अलग-अलग होते हैं क्या?

पू. लालचंदभाई: अलग हैं। द्रव्य का निश्चय ऐसा है कि जो उत्पाद-व्यय से रहित है, १४ गुणस्थान से रहित है वो द्रव्य का निश्चय है। द्रव्य का निश्चय यानि निश्चयनय का विषय जो उपादेय तत्त्व है, आश्रयभूत तत्त्व है, अवलंबनभूत तत्त्व है, जिसमें अहम् करना है वो उत्पाद-व्यय से रहित होता है, त्रिकाली सामान्य शुद्धात्मा; वो द्रव्य का निश्चय है। और एक पर्याय का निश्चय, जो पर्याय अपनी आत्मा को ही जानती है, पर को जानती नहीं है - बंद करती है, तो उसका नाम पर्याय का निश्चय। द्रव्य का निश्चय और पर्याय का निश्चय, जब दो साथ में आते हैं तब अनुभूति होती है। जो उसमें क्रम पड़ता है तो अनुभव नहीं होती है, पक्ष आ जाता है, राग आ जाता है। एक समय की बात है।

दो बात हैं, शास्त्र में ही है। द्रव्य का निश्चय (जो) है वो (समयसार) ३२० गाथा में अकारक-अवेदक (है वो) द्रव्य का निश्चय; और सेटिका की गाथा (३५६-३६५ समयसार) में ज्ञान की पर्याय का निश्चय, साफ शब्दों लिखा है, ऊपर शीर्षक में। ज्ञान की पर्याय का निश्चय मैं बताता हूँ कि ज्ञान की पर्याय जब ज्ञायक के सन्मुख होती है तब ज्ञायक ही हो जाती है, उसका नाम ज्ञान की पर्याय का निश्चय। सब (कुछ) शास्त्रों में है। जैसे वो आता है न कि (जब) दो मिलते हैं तो पानी बनता है। क्या? हाँ! oxygen (ऑक्सिजन) और hydrogen (हाइड्रोजन), दो मिलते हैं तो पानी बनता है कि नहीं? ऐसे द्रव्य का निश्चय (अर्थात्) दृष्टि का विषय दृष्टि में आवे और (पर्याय का निश्चय) ज्ञान में ज्ञायक आ जावे तो

अनुभूति हो जाती है, ध्येय पूर्वक ज्ञेय हो जाता है। प्रवचनसार भी आ गया, तत्त्वार्थसूत्र भी आ गया, समयसार भी आ गया, सब आ गए।

मुमुक्षु: आप जब बोलते हो तो बड़ा सरल मालूम पड़ता है और जब practical (प्रयोग) करते हैं तो बड़ा कठिन मालूम पड़ता है।

पू. लालचंदभाई: रुचि बढ़ाना। रुचि बढ़ाना वही उपाय है, दूसरा उपाय नहीं है। मेरे को इस भव में आत्मा समझना है, बस! और कुछ जानकारी कम हो, ज्यादा हो, वो तो क्षम्य है।

मुमुक्षु: बराबर! एक भाई ने पूछा है कि मोह का तीव्र उदय हो तो उसे मंद करने के लिए क्या पुरुषार्थ करें?

पू. लालचंदभाई: आत्मा को याद करो मोह मंद हो जायेगा। मैं तो ज्ञानानंद परमात्मा हूँ (तो) मोह भाग जायेगा। पहले मंद होगा, बाद में (भाग जायेगा)। एक टँकार (धनुष की ध्वनि) करो, एक टँकार (कि) मैं ज्ञानानंद परमात्मा हूँ। बस! मोह के नाश का एक ही उपाय है 'मैं परमात्मा हूँ'। आहाहा! ऐसी भाषा नहीं, विकल्प नहीं; अंदर में, अंदर में परिणमन ऐसा अपेक्षित होना। बाद में निरपेक्ष हो जाना।

मुमुक्षु: साहेब! जब मोह का तीव्र उदय होता है उस समय आत्मा तो याद आता ही नहीं है।

पू. लालचंदभाई: यह आत्मा को याद नहीं करता है इसलिए मोह है। आत्मा को याद करे तो तीव्र मोह होता ही नहीं है। वो मोह मंद हो जाता है।

मुमुक्षु: बहुत सुंदर! केवली का ज्ञान स्वपरप्रकाशक है तो वहाँ ज्ञेय पदार्थ देखने का दोष आता है कि नहीं आता है?

पू. लालचंदभाई: नहीं! नहीं आता है। स्वपरप्रकाशक व्यवहार है न, अपने आत्मा को जानते हैं और लोकालोक जणित (जानने में आ) जाता है। तो स्वपरप्रकाशक ज्ञान केवली का है। ऐसे साधक को भी स्वपरप्रकाशक ज्ञान है, प्रमाणज्ञान, व्यवहार ज्ञान है। स्वपरप्रकाशक व्यवहार है। व्यवहार में से निश्चय निकालना कि 'स्व जानने में आता है, पर जानने में आता नहीं है' तो अनुभव होगा और अनुभव के बाद में स्वपरप्रकाशक - व्यवहार भी निश्चयपूर्वक प्रगट होगा ही होगा। घबराना मत।

मुमुक्षु: केवली भगवान को स्वपरप्रकाशक का व्यवहार लागू पड़ता है?

पू. लालचंदभाई: हाँ! जरूर। व्यवहार ही है, ऐसा लिखा है नियमसार में, १५९ गाथा नियमसार की। बस! आधार देता हूँ।

मुमुक्षु: भाई! केवलज्ञान में तो नय होते नहीं हैं न?

पू. लालचंदभाई: नीचे का जीव नय लगाकर जानता है कि केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं कि स्व को जानते हैं, इसमें क्या? कि लोकालोक को जाने तो व्यवहारनय; केवली भगवान अपने आत्मा को जानते हैं वो निश्चयनय है। ऐसा नियमसार (गाथा १६६) में लिखा है कि कोई तत्त्ववेदी, अनुभवी जीव ऐसा कहे कि केवली भगवान अपने को जानते हैं और पर को जानते नहीं हैं, तो क्या दोष? कि कोई दोष नहीं? इसका क्या कारण? कि निश्चयनय से व्याख्या है। निश्चयनय से आत्मा को जानते हैं। और बाद में एक गाथा (१६९) आयी कि आत्मा को नहीं जानते हैं केवली भगवान,

लोकालोक को जानते हैं, तो कोई इसमें दोष है? कि कोई दोष नहीं है, वो व्यवहारनय का कथन है। नय लगाने से समाधान हो जाता है।

मुमुक्षु: स्व-पर का भेदज्ञान करने से आगम का ज्ञान हो जाता है क्या?

पू. लालचंदभाई: स्व-पर का भेदज्ञान करने से और बाद में आत्मा का ज्ञान करने से अध्यात्म-आगम दोनों का ही ज्ञान हो जाता है। अकेला स्व-पर में अटकना नहीं; स्व-पर में से स्व निकाल लेना। स्व-पर का प्रतिभास तो होता है उसमें से स्व निकाल लेना, उसमें उपयोग इस तरफ लगा देना, तो अध्यात्म-आगम दोनों आ गए।

मुमुक्षु: अध्यात्म और आगम इन दोनों में क्या अंतर है?

पू. लालचंदभाई: अध्यात्म में अकेले आत्मा की बात है और आगम में परपदार्थ भी शामिल हो जाते हैं। और राग, साधक राग को जानता है वो भी आगम-पद्धति है।

मुमुक्षु: राग को जानना भी आगम-पद्धति है?

पू. लालचंदभाई: आगम-पद्धति है।

मुमुक्षु: पर्याय पर्याय का वेदन करती है, इसका क्या तात्पर्य है?

पू. लालचंदभाई: हाँ! पर्याय का वेदन करती है। यानि पर्याय के अंदर एक भोक्ता नाम का धर्म है। पर्याय के अंदर भोक्ता नाम का एक धर्म है। द्रव्य तो अभोक्ता है मगर पर्याय में क्रिया होती है। तो भोक्ता नाम का पर्याय का एक धर्म है। तो जब अज्ञानी है तो वो पर्याय दुःख को भोगती है और (जब) ज्ञान होता है तो आनंद को भोगती है। तो भोक्ता नाम का एक पर्याय का धर्म है। पर्याय पर्याय को भोगती है, आनंद को भोगनेवाली पर्याय है; उपचार से आत्मा आनंद को भोक्ता है ऐसा भी कहा जाता है, उसमें कोई दोष नहीं (है)।

मुमुक्षु: पर्याय जिस आनंद को भोगती है वो आनंद तो द्रव्य में से आता है न?

पू. लालचंदभाई: आनंद द्रव्य में से आता है। द्रव्य का आश्रय है न, द्रव्य का आश्रय है न, तो आनंदमूर्ति है, तो उसके खजाने में से आता है आनंद। आहाहा!

मुमुक्षु: द्रव्य का आनंद पर्याय में आयेगा तो द्रव्य खाली नहीं हो जायेगा?

पू. लालचंदभाई: नहीं होगा, बिल्कुल नहीं। सचमुच तो पर्याय का आनंद पर्याय में होता है, द्रव्य में से आता ही नहीं है। पर क्या करें? समझाने के लिए ऐसा है। वो पर्याय उत्पन्न होती है न (वो) आनंद लेकर उत्पन्न होती है।

मुमुक्षु: वाह!

पू. लालचंदभाई: वो पर्याय सत्-अहेतुक है, त्रिकाली द्रव्य आनंदमूर्ति की अपेक्षा उसको नहीं है। मगर ऐसा कहा जाता है कि आत्मा में से आनंद आता है और आत्मा में आनंद चला जाता है। आहाहा! क्या करें? नय का कथन और प्रमाण का कथन मिलान करने से ख्याल में आ जाता है, विरोध नहीं है बिल्कुल। बिल्कुल विरोध नहीं है। आत्मा आनंद को भोगता है? कि हाँ! आत्मा आनंद को नहीं भोगता है? कि बराबर है। और पर्याय भोगती है? कि बराबर है! तो सब में बराबर? अपेक्षा से समझो तो बराबर है। अपेक्षा के ज्ञान बिना जिनागम का रहस्य समझ में नहीं आता है। टोडरमल साहब ने

कहा न अपेक्षा से (समझो)।

मुमुक्षु: नयचक्र में भी आता है?

पू. लालचंदभाई: आता है न, हाँ। अपेक्षा लगाना चाहिए, तो समझ में आ जाएगा।

मुमुक्षु: ज्ञान ज्ञान गुण की पर्याय है, राग चारित्र गुण की पर्याय है। आप ज्ञान का कर्ता तो आत्मा को कहते हैं, लेकिन राग का कर्ता नहीं कहते। तो ये पक्षपात नहीं है क्या?

पू. लालचंदभाई: नहीं! पक्षपात नहीं है। ज्ञान तो स्वभावभूत क्रिया है और राग तो विभावभूत क्रिया है। विभावभूत क्रिया करने से आत्मा दुःखी होता है। ज्ञानक्रिया स्वभावभूत होने से आनंद आता है। फर्क है बहुत। ज्ञान की पर्याय तो आत्मा का स्वभाव है; राग आत्मा का स्वभाव नहीं है, विभाव है। तो विभाव करो। आहाहा! ऐसे पाप का उपदेश कौन देवे?

नियमसार (कलश १७५, नियम का सार भाग ४ पृष्ठ १३९) में तो वहाँ तक आया कि 'पुण्य करो' ऐसा पाप का उपदेश कौन करे? वो पापी है, ऐसा आया है, आया है, क्या करें? आहाहा! सब आगम में है। तू तपस्वी है (और) पाप का उपदेश करता है? आहाहा! तपस्वी होकर? तपस्वी नहीं रहता वो तो। 'पुण्य करो' वो पाप का उपदेश है। आस्रव है न! आस्रव तो दुःख का कारण है न (समयसार गाथा ७२)! आहाहा!

मुमुक्षु: इसलिए आप पुण्य करने का उपदेश नहीं देते? आप पुण्य करने का उपदेश इसलिए नहीं देते हैं?

पू. लालचंदभाई: पुण्य का फल दुःख है, इसलिए पुण्य का उपदेश देना ही नहीं चाहिए विद्वानों को भी। ये पर्युषण में जाते हैं न? पुण्यभाव आता है। सब विद्यार्थी के लिए मैं बोलता हूँ। छोटे-छोटे विद्यार्थी जाते हैं न? पुण्य का उपदेश 'पुण्य करो' वीतराग धर्म में 'पुण्य करो' वो पुण्य और पाप दोनों एक ही जाति है। ऐसा आया प्रवचनसार (गाथा ७७) में तो कि पुण्य और पाप का जो भेद करेगा, वो संसार में **हिण्डति (परिभ्रमण करता) है**, ऐसा है न?

डॉक्टर हुकुमचंद जी भारिल्ल: **घोर अपार संसार में**, ऐसा है।

पू. लालचंदभाई: **घोर** संसार में, **अपार संसार में**! पुण्य और पाप एक जाति है, आस्रवतत्त्व है भैया। व्यवहारनय से भेद है।

डॉक्टर हुकुमचंद जी भारिल्ल: हिन्दी अनुवाद में **पुण्य और पापमें अन्तर नहीं है ऐसा जो नहीं मानता, वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसारमें परिभ्रमण करता है।**

पू. लालचंदभाई: हाँ! बोलो! पंडित जी ने कहा **घोर संसार** में।

मुमुक्षु: पुण्य-पाप में अन्तर नहीं है, जो न माने बात यह, संसार सागर में भ्रमे ...

पू. लालचंदभाई: आहाहा! बोलो! **घोर संसार में हिण्डति**, घोर संसार में भटकते हैं। क्योंकि यदि भेद करता है तो पुण्य उपादेय लगता है और पाप हेय लगता है। वो पुण्य और पाप (तो) समान कक्षा से हेय ही हैं, उपादेय नहीं हैं। भैया! आता है पुण्यभाव, शुभभाव आता है, साधक को भी पाँच महाव्रत का भाव आता है, देशव्रती श्रावक को शुभभाव आता है। अविरति सम्यग्दृष्टि को भी यात्रा का, पूजा का शुभभाव आता है। कर्ता नहीं है, ये ध्यान रखना, कर्ता नहीं है, कर्ता तो ज्ञान (का) है। शुभभाव

आता है, उसको जानता है (अर्थात्) उसके लक्ष बिना जनित (जानने में आ) जाता है। ऐसी चीज है, अभय कुमार जी!

मुमुक्षु: बहुत सरस खुलासा! यहाँ अशुभभाव से बचने के लिए शास्त्रों में भी ऐसा उपदेश है न कि भगवान की पूजा करना चाहिए, दर्शन करना चाहिए।

पू. लालचंदभाई: उपदेश कथन तो ऐसा आता है। उपदेश कथन तो बहुत तरीके के हैं मगर सिद्धांत पर चले जाना। समझे?

मुमुक्षु: उपदेश कथन में तो ऐसा कह सकते हैं न कि पाप से छुड़ाना?

पू. लालचंदभाई: कहवें, कोई-कोई कहवें, हम तो नहीं कहनेवाले हैं। हमारी बात साथ-साथ नहीं करना।

डॉक्टर हुकुमचंद जी भारिल्ल: उपदेश कथन जिनवाणी में ही तो आता है?

पू. लालचंदभाई: हाँ! ठीक है, आता है। कोई अकेला पाप पर चला गया (तो) 'भाई पाप छोड़कर पुण्य कर' ऐसा भी कहा जाता है। कोई माँस खाता है (तो) 'माँस खाना छोड़ दे, आलू खा ले'। अरे! क्या कहा? वो कथन की पद्धति और व्यक्ति, वो व्यक्तिपरक उपदेश है। और समष्टिगत उपदेश में पुण्य-पाप करने की बात है ही नहीं वीतराग वाणी में। आहाहा! व्यक्तिगत उपदेश अलग है, जब कोई ऐसा तर्क पुस्तक में लिखे, (तो) वो सिद्धांत नहीं बन जाता है।

मुमुक्षु: ऐसा एक प्रश्न भी है कि साधक के जीवन में चरणानुयोग की उपयोगिता किस प्रकार होती है?

पू. लालचंदभाई: इस प्रकार होती है कि जो भेदज्ञान में जितनी-जितनी स्थिरता होती है उतना तो वीतरागभाव है। मगर अस्थिरता होती है उतना रागभाव भी, व्रतादि का भाव (भी) आता है। चरणानुयोग में शुद्धता और अशुद्धता ये साथ-साथ में दोनों रहती हैं। चरणानुयोग सम्यग्दृष्टि को लागू पड़ता है, मिथ्यादृष्टि को चरणानुयोग कहाँ है? आहाहा!

मुमुक्षु: थोड़ा खुलासा करो।

पू. लालचंदभाई: सम्यग्दृष्टि बनने के बाद उसका जो आचरण होता है वो गुणस्थान की परिपाटी के अनुसार ही होता है। उससे विपरीत भाव उसको आता ही नहीं है। गुणस्थान की परिपाटी प्रमाण में अशुभ और शुभ आता है। ऊपर में शुभ आता है; (नीचे) शुभाशुभ आते हैं और बाद में ऊपर में अकेला शुभ आता है। ऐसे जैसे-जैसे आत्मा में विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है, उतनी स्थिरता बढ़ती है और अस्थिरता में भी ऐसा ही आता है। चरणानुयोग में (जैसा) लिखा हैं न, वैसा ही भाव आता है। इससे उतरता (हीन) भाव नहीं है। इसका अर्थ ये है कि ये शुभभाव है तो चारित्र है, ऐसा नहीं है। वहाँ नजर जाती है सबकी। बाहर का चारित्र देखकर वो उसको आहाहा! क्या कहे! आहाहा! साधक मान लेता है। बाहर के चारित्र का, कषाय की मंदता देखकर उसको चारित्रवान मानते हैं। वो अलग बात है, वो बात ऐसी नहीं है। आहाहा! ऐसे तो ये ग्यारह अंग का पाठी मुनि हो गया, दिगम्बर मुनि, नौवें ग्रेवेयक भी जाता है तो कषाय की मंदता कितनी है। तो क्या चरणानुयोग अनुसार चारित्र है उसका?

मुमुक्षु: उसको तो चरणानुयोग मानना चाहिए। द्रव्यानुयोग नहीं है उसके पास, चरणानुयोग है।

पू. लालचंदभाई: आत्मा तो है कि नहीं उसके पास? आत्मा ही द्रव्यानुयोग है।

मुमुक्षु: हाँ जी।

पू. लालचंदभाई: आत्मा का लक्ष करने से वो भेदज्ञान होता है तो उसमें चारित्र की स्थिरता का, अस्थिरता के भाव का ज्ञान हो जाता है। आहाहा!

चारित्र, भैया, सम्यग्दर्शन के बिना निश्चय-चारित्र नहीं है और व्यवहार-चारित्र नहीं है। कषाय की मंदता कहो मिथ्यात्व दृढ़ करने के लिए, बस! इतना कहो।

मुमुक्षु: मिथ्यात्व दृढ़ करने के लिए?

पू. लालचंदभाई: हाँ! कर्ताबुद्धि पड़ी है न? उससे धर्म मानता है न? आहाहा! आहिस्ता-आहिस्ता धर्म हो जायेगा। आहाहा! अफ़ीम खाते-खाते, आहाहा! डकार आयेगी मीठी। ऐसा होगा कभी?

मुमुक्षु: कभी नहीं!

पू. लालचंदभाई: हो गया टाइम।

जिनवाणी स्तुति।